



National Journal of Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177

NJHSR 2026; 1(68): 83-86

© 2026 NJHSR

www.sanskritarticle.com

डॉ. सूर्यकान्त त्रिपाठी

सहायक प्राध्यापक,

शासकीय महाविद्यालय शाहगढ़,

सागर

बुन्देली काव्य में लोकजीवन और सामाजिक परिवर्तन का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. सूर्यकान्त त्रिपाठी

शोध-सार

प्रस्तुत शोध आलेख में बुन्देली काव्य में लोकजीवन और सामाजिक परिवर्तन का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है। बुन्देली काव्य परंपरा को केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में न देखकर बुंदेलखंड के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के अनुभवों तथा परिवर्तनों को समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य यह देखना है कि बुन्देली काव्य में लोकसमाज की संरचना, जीवन-मूल्य, सामाजिक संबंध, जातीय स्थितियाँ तथा बदलती सामाजिक चेतना किस प्रकार अभिव्यक्त होती है। अध्ययन में आल्हा-खंड की वीरगाथात्मक परंपरा के माध्यम से वीरता, स्वाभिमान, प्रतिष्ठा और तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण किया गया है। भक्ति एवं रीतिकालीन काव्य के संदर्भ में दरबारी संस्कृति और लोकचेतना के अंतर्संबंधों को रेखांकित किया गया है। ईसुरी की फागों में ग्रामीण जीवन, प्रेम, श्रम, आर्थिक अभाव, सामाजिक दबाव तथा लोकानुभव की अभिव्यक्ति का विश्लेषण किया गया है। बुन्देली लोकगीतों, विशेषतः गारी परंपरा, के माध्यम से स्त्री-अभिव्यक्ति और लैंगिक संबंधों के सामाजिक पक्षों को समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन से यह निष्कर्ष सामने आता है कि बुन्देली काव्य में लोकजीवन स्थिर और अपरिवर्तनशील नहीं है, बल्कि सामाजिक परिस्थितियों, मूल्यों और संबंधों के साथ बदलता रहा है।

बीजशब्द

बुन्देली काव्य, लोकजीवन, सामाजिक परिवर्तन, समाजशास्त्रीय विश्लेषण, लोकचेतना, सामाजिक यथार्थ, लोकसंस्कृति, ईसुरी, आल्हा-खंड, नारी स्वर।

शोध आलेख

बुंदेलखंड की साहित्यिक विरासत, जिसे बुन्देली काव्य परंपरा के नाम से अभिहित किया जाता है। यह बुंदेलखंड के विस्तृत भू-भाग के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन का एक जीवंत ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय दस्तावेज है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से साहित्य का विश्लेषण करने पर दिखाई देता है कि कवि और उनकी रचनाएँ शून्यता में सृजित नहीं होती हैं, वे अपने समय की सामाजिक संरचनाओं, जातिगत व्यवस्थाओं और आर्थिक परिस्थितियों की उपज होती हैं। बुंदेलखंड, जिसे भौगोलिक रूप से “इत जमुना, उत नर्मदा, इत चम्बल, उत टोंस”¹ के मध्य स्थित क्षेत्र के रूप में जाना जाता है, अपनी विशिष्ट जलवायु व स्थिति के कारण एक विशेष प्रकार की सामाजिक चेतना का निर्माण करता है।

बुन्देली भाषा का सामाजिक आधार और ऐतिहासिक उद्भव

बुन्देली भाषा का उद्भव केवल एक व्याकरणिक घटना न होकर मध्य भारत में नई सामाजिक शक्तियों के उदय का संकेत था। भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार, बुन्देली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश के ‘मध्यदेशीय’ रूप से हुआ है। समाजशास्त्रीय रूप से महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि आचार्य दण्डी ने अपभ्रंश को ‘आभीरादि गिरा’² (आभीरों की भाषा) कहा है। यह शब्दावली इस बात की ओर संकेत करती है कि बुन्देली की जड़ें

Correspondence:

डॉ. सूर्यकान्त त्रिपाठी

सहायक प्राध्यापक,

शासकीय महाविद्यालय शाहगढ़,

सागर

अभिजात वर्गीय संस्कृत में न होकर पशुपालक और कृषक जातियों विशेषकर आभीर (अहीर) और गुजरा की बोली में निहित थीं।

जब 10वीं शताब्दी के आसपास चालुक्यों ने गुजरा को विस्थापित किया और वे मध्य प्रदेश की ओर बढ़े, तो उनके साथ आई भाषा ने स्थानीय बोलियों के साथ मिलकर बुन्देली का रूप लिया। इस प्रक्रिया को 'सांस्कृतिक संकरण' के एक उत्कृष्ट उदाहरण के तौर पर देख सकते हैं। बुन्देली भाषा के विकास के संबंध में श्री केशवचन्द्र मिश्र कहते हैं—“चन्देल साम्राज्य के अधिकांश भाग में बुन्देली भाषा अपनी स्थानीय बोलियों के साथ 11-12वीं सदी में विकसित हो रही थी।”³ बुंदेलखंड नामकरण बुंदेला राजपूतों के नाम पर हुआ, जो 14वीं शताब्दी के आसपास सत्ता में आए, लेकिन भाषा का आधार यहाँ की मूल निवासी प्रजा और श्रमिक वर्ग ही रहा। मध्यकाल (विशेषकर 17वीं-18वीं शताब्दी) में बुन्देली को 'राजभाषा' का दर्जा प्राप्त हुआ। पन्ना नरेश और मुगल बादशाहों के बीच पत्र व्यवहार बुन्देली में होता था, और सरकारी आदेश इसी भाषा में जारी किए जाते थे। यह स्थानीय अस्मिता का केंद्रीय सत्ता (मुगलों) के समक्ष एक सशक्त दावा था। बुन्देली केवल संवाद का माध्यम नहीं थी, बल्कि यह बुंदेला राज्य की 'संप्रभुता' और 'सांस्कृतिक स्वतंत्रता' का प्रतीक बन गई थी।

बुन्देली भाषा की मिठास केवल उसके शब्दों और उच्चारण की विशेषता नहीं है, बल्कि उसमें बुंदेलखंड के लोकजीवन की सामाजिक स्मृति और सांस्कृतिक अनुभव भी संचित हैं। किसी समाज की भाषा उसके जीवन को व्यक्त करने का माध्यम भर नहीं होती, बल्कि वह उसके सोचने, अनुभव करने और अपनी सामूहिक पहचान को बनाए रखने का आधार भी होती है। इस दृष्टि से बुन्देली का अध्ययन केवल भाषा का अध्ययन नहीं, बल्कि बुंदेलखंड के समाज और संस्कृति को समझने का भी एक महत्वपूर्ण माध्यम है। बुन्देली भाषा के साहित्यिक महत्व और उसके ऐतिहासिक संबंधों पर डॉ. राहुल सांकृत्यायन का यह कथन उल्लेखनीय है—“जिसे हम ब्रज साहित्य कहते हैं- वह पहले ग्वालियरी साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। वह आज की ब्रज, बुन्देली, कन्नौजी का सम्मिलित साहित्य था। ब्रजभाषा साहित्य में माने जाने वाली अधिकतर पुस्तकें बुन्देली साहित्यकारों द्वारा ही निर्मित हैं, किन्तु वे ब्रज भाषा के खाते में गिनी जाती हैं।”⁴ इस कथन को समाजशास्त्रीय आधार से देखने पर भाषा और सांस्कृतिक सत्ता का प्रश्न सामने आता है। साहित्य के इतिहास में यह निर्धारित करना कि कौन-सी रचना किस भाषा के साहित्य में शामिल होगी, केवल भाषिक समानता का विषय नहीं है; इसके पीछे साहित्यिक प्रतिष्ठा, क्षेत्रीय पहचान और ज्ञान के संस्थागत केंद्रों की भूमिका भी होती है। यदि किसी क्षेत्र के रचनाकारों की रचनाएँ लंबे समय तक किसी दूसरी भाषा की साहित्यिक परंपरा के अंतर्गत दर्ज होती रहें, तो उस क्षेत्र की स्वतंत्र साहित्यिक पहचान अपेक्षाकृत कम दिखाई दे सकती है।

आल्हा खण्ड : शौर्य और जातिगत लोकचेतना

बुन्देली काव्य परंपरा की शुरुआती और सबसे प्रभावशाली आवाजों में आल्हा-खंड का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। जगनिक द्वारा लिखित यह वीरगाथा ग्रंथ एक जीवित लोकपरंपरा है, जो

बुंदेलखंड के गाँवों, मेलों और सामुदायिक अवसरों पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी गाई जाती रही है। आल्हा को सुनते हुए केवल किसी पुराने युद्ध की कहानी नहीं सुनाई देती, बल्कि उस समाज की धड़कन भी सुनाई देती है जिसने वीरता, स्वाभिमान, वचन और प्रतिष्ठा को जीवन के सबसे बड़े मूल्यों में स्थान दिया था। मध्यकालीन बुंदेलखंड का समाज सामंती संरचना से गहराई से प्रभावित था। सत्ता, भूमि और सैन्य शक्ति कुछ विशिष्ट वर्गों के हाथों में केंद्रित थी। व्यक्ति की पहचान उसके परिवार, कुल, जाति और सामाजिक स्थिति से तय होती थी। ऐसे समाज में युद्ध केवल राज्यों के बीच संघर्ष नहीं था। उसके पीछे भूमि, सत्ता, प्रतिष्ठा और अपने स्वामी तथा कुल के प्रति निष्ठा जैसे अनेक सामाजिक अर्थ जुड़े हुए थे। इसलिए आल्हा-खंड में युद्ध का वर्णन जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही महत्वपूर्ण वह सामाजिक मूल्यबोध है जिसके कारण युद्ध में उतरना और प्राण देना गौरव की बात माना जाता था। इसको व्यक्त करने वाली जगनिक की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

“बारह बरिस लै कूकर जीएँ, औ तेरह लै जिए सियारा।

बरस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन को धिक्कारा।”⁵

इन पंक्तियों में जीवन की लंबाई से अधिक उसके अर्थ और गरिमा को महत्व दिया गया है। यहाँ 'छत्री' के लिए आदर्श जीवन वह है जिसमें साहस हो, प्रतिष्ठा हो और आवश्यकता पड़ने पर अपने सम्मान के लिए प्राण तक न्योछावर करने का साहस हो। आज की दृष्टि से यह मूल्यबोध कठोर या अतिरंजित लग सकता है, लेकिन उस समय के योद्धा समाज की मानसिकता को समझने के लिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। आल्हा-खंड में मृत्यु का भय लगभग उसी समय समाप्त हो जाता है जब सम्मान खोने का भय सामने आता है। वीर के लिए युद्ध से पीछे हटना केवल व्यक्तिगत पराजय नहीं, बल्कि उसके कुल और समुदाय की प्रतिष्ठा पर आघात माना जाता है। इसलिए वीरता व्यक्ति का निजी गुण न रहकर सामूहिक सम्मान का प्रश्न बन जाती है। आल्हा और ऊदल जैसे पात्र इसी कारण केवल योद्धा नहीं रहते; वे धीरे-धीरे लोकनायकों में बदल जाते हैं। आल्हा-खंड को समाजशास्त्रीय दृष्टि से पढ़ते समय जाति का प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो जाता है। मध्यकालीन समाज में जाति व्यक्ति की सामाजिक पहचान और प्रतिष्ठा का एक प्रमुख आधार थी। जन्म से प्राप्त सामाजिक स्थिति को बदलना आसान नहीं था। फिर भी लोकवीर गाथाओं में एक दिलचस्प स्थिति दिखाई देती है—व्यक्ति की वीरता, साहस और युद्धकौशल उसे ऐसी प्रतिष्ठा प्रदान कर सकते थे जो केवल उसके जन्म से निर्धारित नहीं होती। इसे आधुनिक अर्थों में जाति-व्यवस्था से मुक्ति या सामाजिक समानता नहीं कहा जा सकता। जाति की संरचना अपनी जगह बनी रहती है। लेकिन उसके भीतर व्यक्तिगत पराक्रम के आधार पर प्रतिष्ठा अर्जित करने की संभावना अवश्य दिखाई देती है। यही आल्हा-परंपरा के समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक रोचक पक्ष है।

आल्हा में सत्ता दिखाई देती है, लेकिन उसके साथ लोक की अपनी दृष्टि भी मौजूद है। दरबारी इतिहास किसी राजा या योद्धा का मूल्यांकन उसके पद और सत्ता के आधार पर कर सकता है, जबकि

लोक उसे उसके साहस, त्याग और लोकप्रियता के आधार पर याद रखता है। यही कारण है कि आल्हा जैसे पात्र राजकीय इतिहास से आगे निकलकर जनस्मृति का हिस्सा बन जाते हैं। यहाँ लोक की अपनी एक मूल्य-व्यवस्था दिखाई देती है। लोक उस व्यक्ति को अधिक समय तक याद रखता है जिसमें उसे अपना साहस, अपना दुख, अपना स्वाभिमान और अपनी आकांक्षा दिखाई देती है। इस प्रकार आल्हा बुंदेलखंड के लिए केवल अतीत का पात्र नहीं, बल्कि सामूहिक आत्मबोध का हिस्सा है।

भक्ति और रीतिकाल: दरबारी संस्कृति बनाम लोक चेतना

16वीं-17वीं शताब्दी में ओरछा और पन्ना के बुंदेला शासकों के संरक्षण में एक समृद्ध दरबारी साहित्य सामने आता है। केशवदास (1555-1617) जैसे कवियों ने 'रामचंद्रिका' और 'रसिकप्रिया' जैसी रचनाओं के माध्यम से बुन्देली को संस्कृत के समकक्ष खड़ा करने का प्रयास किया। समाजशास्त्रीय आधार से देखने पर, यह साहित्य 'अभिजात वर्ग' के लिए था। इसमें श्रृंगार, नायिका-भेद और अलंकार विलासितापूर्ण दरबारी जीवन को प्रतिबिंबित करते थे।

दरबारी विलासिता के समानांतर, भक्ति काव्य ने समाज को जोड़ने का काम किया। बुन्देली भक्ति काव्य में विष्णुदास की रचनाएं और स्थानीय संत कवियों की वाणियाँ जाति-पांति के बंधनों को ढीला करने का प्रयास कर रही थीं।⁶

लोक-जागरण और ईसुरी की फागों में यथार्थ

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, जब दरबारी साहित्य अप्रासंगिक हो रहा था और 1857 के विद्रोह के बाद समाज में उथल-पुथल थी, तब ईसुरी (1824-1909) का उदय हुआ। ईसुरी ने 'फाग' जैसी लोक विधा को साहित्यिक गहराई प्रदान की और उसे खेतों-खलिहानों की आवाज बनाया। ईसुरी का साहित्य बुंदेलखंड के ग्रामीण समाजशास्त्र का एक प्रामाणिक दस्तावेज है। उनकी फागों के विषय में श्याम सुंदर बादल अपनी पुस्तक 'बुन्देली का फाग साहित्य' में लिखते हैं – "ग्रामों में कहीं इसी दिन से और कहीं इसके पूर्व ही फागों की ढोलक ठमकनें लगती है। किसान लोग शीत-काल की लंबी रातों का अधिकांश भाग तो कोंडो अलावों के आस पास बैठकर फागों गा-गा कर ही काट लेते हैं।"⁷ ईसुरी की फागों के केंद्र में 'रजऊ' हैं। रजऊ एक धोबिन और ईसुरी एक कुलीन ब्राह्मण, तत्कालीन समाज में एक ब्राह्मण का एक निम्न-जाति की महिला के प्रति अपने प्रेम को सार्वजनिक रूप से स्वीकार करना और उस पर हजारों फागों लिखना एक क्रांतिकारी सामाजिक विद्रोह के समान है। समाजशास्त्रीय रूप में देखने पर, ईसुरी का यह प्रेम 'व्यक्तिवाद' की पहली आहट है जो जातीय बंधनों को चुनौती दे रही थी। वे लिखते हैं –

"ईसुर दूर दरस के लाने, ऐसे काए ललाते"⁸

साथ ही, भारतीय लोकजीवन की मार्मिकता की झलक ईसुरी की फागों में देखने को मिलती है –

"ले लो सीताराम हमारी, चलती बेरां प्यारी।

ऐसी निगा राखियौ हम पै, होय न नजर दुआरी।

मिलकें कोऊ बिछुरत नइयां, जितने हैं जिउ धारी।

ईसुर हंस उड़न की बेरा, झुक आई अंदयारी।। " ⁹

ईसुरी केवल प्रेमी नहीं थे, वे किसान जीवन की कठोर वास्तविकताओं के दृष्टा भी थे। उनकी फागों में गरीबी और बेगारी का चित्रण मिलता है। उन्होंने ग्रामीण न्याय व्यवस्था और सामाजिक दबावों की पीड़ा को भी व्यक्त किया। जब उन पर झूठे आरोप लगे, तो उन्होंने लिखा— "कैसे मिटे लगी के घाव, इकी दवा बताओ"। यह ग्रामीण समाज में ईर्ष्या, मुकदमेबाजी और सामाजिक बहिष्कार के भय को दर्शाता है।

बुन्देली लोकगीतों में नारी स्वर का समाजशास्त्र

बुन्देली लोकगीतों, विशेषकर विवाह के अवसर पर गाई जाने वाली 'गारियों' (गालियां), का समाजशास्त्रीय महत्व अत्यधिक है। यह एक ऐसा सुरक्षित स्थान है जहाँ समाज महिलाओं को मर्यादा लांघने की अनुमति देता है। इन गीतों में महिलाएं पुरुषों की सत्ता, उनके शारीरिक गठन और नैतिकता का मजाक उड़ाती हैं। एक गारी गीत की चेतावनी देखिए –

"अपनों अपनों तौलों जू, नई भऔ जौलों गौनों जू।

जौ दिन जौ पंछी उड़ जैयै, धरनी ढाँचौ डरौ दिखैयै।

बांस कांस पै सो उत जैयै, छूट जैयै जे अटा अटारी।

बीच मसानें सौनों जू नई भओ जौलों गौनों जू।

नारी देरी लौ पौचे यै, बेटा अग्नि दानकर दैयै।"¹⁰

बुन्देली काव्य में बेटियों के प्रति बदलती सामाजिक दृष्टि का एक संवेदनशील और सकारात्मक रूप दिखाई देता है। परंपरागत समाज में जहाँ बेटे को प्रायः परिवार की जिम्मेदारी और विवाह से जोड़कर देखा जाता रहा है, वहीं आधुनिक बुन्देली काव्य में उसे शिक्षा, ज्ञान, तकनीक और आत्मनिर्भरता से जोड़ने का प्रयास दिखाई देता है। यह परिवर्तन केवल साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि समाज में आ रहे बदलाव का भी संकेत देता है। बुन्देली कवि श्याम बहादुर श्रीवास्तव 'श्याम' अपनी फाग में बेटियों की प्रतिभा और उनकी संभावनाओं को रेखांकित करते हुए लिखते हैं—

"बिटियाँ सबइ गुनन में अगरी,

उन्नत पथ वे डगरी।

सिच्छा उर विग्याँन ग्याँन में, ठौर-ठौर वे पसररी।

कम्प्यूटर जुग में तकनीकि की, काकी वे निकरी।

झण्डा ऊँचों रय बिटियन कौ, रयं हर सुख में सपरी।"¹¹

इन पंक्तियों में बेटे को केवल परिवार का हिस्सा नहीं, बल्कि समाज के विकास में सक्रिय भागीदारी करने वाली सक्षम व्यक्ति के रूप में देखा गया है। यह दृष्टि पारंपरिक सोच से आगे बढ़कर बेटे के व्यक्तित्व और उसकी स्वतंत्र पहचान को स्वीकार करती है।

आधुनिक बुन्देली कविता: प्रतिरोध, पलायन और संकट

आधुनिक काल के प्रारंभ में गंगाधर व्यास ने बुन्देली काव्य को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ा। "अंग्रेज पे भारी पड़ गयो बुन्देली को पानी"¹² जैसी पंक्तियाँ 1857 के विद्रोह की स्मृति को जीवित रखने का प्रयास थीं। स्वातंत्र्योत्तर काल में संतोष सिंह बुंदेला ने बदलते सामाजिक मूल्यों और परिवार के विघटन को स्वर दिया। उनकी

कविता 'बापू अब न आए' और 'दुखिया दीन गमइयाँ' ग्रामीण समाज के टूटने की पीड़ा हैं। "इतनी सुनी मतारी ने, दो जने घर से कड़ गए... वे तो तीर्थों में मर गए", यह कविताएँ आधुनिकता की दौड़ में बुजुर्गों की उपेक्षा पर चोट करती हैं। महेश कटारे अपनी कविताओं में व्यक्त करते हैं –

“रोटी नईयाँ पानी नईयाँ
छप्पर नईयाँ छानी नईयाँ
हम तौ गंवई गाँव के ठेरे
चंट, चतुर, और ज्ञानी नईयाँ
जीवे खों तौ सब जी रये हैं
जीवे में आसानी नईयाँ
सींचौ खूब पसीना हमनें
खुशी मनौ हरयानी नईयाँ
किसा, कहानी को कै रऔ अब
दादी मर गई नानी नईयाँ
काल मिली तौ हती ज़िन्दगी
मनौ सुगम बतयानी नईयाँ”¹³

आज का बुन्देली काव्य बुंदेलखंड की सबसे बड़ी त्रासदी सूखा और जल संकट पर केंद्रित है। 'तीजो कुरियो आठों अकाल' (हर तीसरे साल छोटा अकाल, आठवें साल बड़ा अकाल)। यह लोकोक्ति जीवन की अनिश्चितता को बताती है। पानी की कमी ने सामाजिक संबंधों को भी बदल दिया है।

बुन्देली काव्य परंपरा का समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि बुन्देली काव्य में मूल्यों का संक्रमण है, बुन्देली काव्य ने जगनिक के 'सामंती शौर्य' से लेकर, ईसुरी के 'लोकतांत्रिक प्रेम', और अंततः आधुनिक कवियों के 'राजनीतिक प्रतिरोध' तक की यात्रा तय की है। बुंदेलखंड में 'लोक' हमेशा 'शास्त्र' पर भारी पड़ा है। ईसुरी की फागें केशवदास की क्लिष्ट कविताओं से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई क्योंकि उन्होंने जन-मन की भाषा बोली। इस आधार पर, बुन्देली काव्य न केवल बुंदेलखंड के अतीत को समझने का माध्यम है, बल्कि यह उसके वर्तमान संघर्षों और भविष्य की आकांक्षाओं का भी दर्पण है।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. विद्या चौहान, महाराजा छत्रसाल, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2025, प्रस्तावना से)
2. www.cec-ugc.nic.in/webpath/curriculum/Module/HINHON/Paper06/35/downloads/script.pdf, 12 फरवरी 2026
3. www.cec-ugc.nic.in/webpath/curriculum/Module/HINHON/Paper06/35/downloads/script.pdf, 12 फरवरी 2026

4. मध्यदेशीय भाषा- ग्वालियरी- पं० हरिहर द्विवेदी (प्रस्तावना अंश) में
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 57
6. <https://ignca.gov.in/coilnet/bund0013.htm>, 14 फरवरी 2026
7. श्याम सुंदर बादल, बुन्देली का फाग साहित्य, मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद, भोपाल, संस्करण 2000, पृष्ठ 38
8. <https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%88%E0%A4%B8%E0%A5%81%E0%A4%B0%E0%A5%8>, 14 फरवरी 2026
9. श्याम सुंदर बादल, बुन्देली का फाग साहित्य, मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद, भोपाल, संस्करण 2000, पृष्ठ 205
10. संपादक बहादुर सिंह परमार व हरीसिंह घोष, बुंदेलखंड की छंदबद्ध काव्य परंपरा (ले. रामनारायण श्रीवास्तव श्याम,), मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद, भोपाल, संस्करण 2005, पृष्ठ 341
11. फाग फुआर- श्याम बहादुर श्रीवास्तव, आदिवासी लोक कला एवं बाल विकास अकादमी, पृष्ठ (उपोद्धात) फाग - 51
12. बुन्देलखण्ड का काव्य, पुनीत बिसारिया, <https://teachmint.storage.googleapis.com/public/292376329/StudyMaterial/45123048-c2ad-4a58-9661-86dcd0dfd4a2.pdf>, 12 फरवरी 2026
13. kavitakosh.org/kk/रोटी_नईयाँ_पानी_नईयाँ/_महेश_कटारे_सुगम, 15 फरवरी 2026